शासन शिरोमणि, निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग प्रकाशक, भावी के भगवंत, जिनेन्द्र लघुनंदन कहानगुरु की १३१वीं जन्म जयंति के मंगलकारी प्रसंग पर, उनके पावन पादपंकज में शत शत वंदन!

गुरुदेव तो स्वयं एक अलौकिक द्रव्य थे, अलौकिक उनका परिणमन था एवं पुण्य का—वाणी का योग भी कोई अलौकिक सातिशय योग था। गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। सुननेवाले को तो कान में कोई अमृत की धारा करता हो ऐसा मिष्ट लगे। कुछ जीवों को ऐसा लगा है कि मानों कोई दैवीवाणी आती है! एक असाधारण युगपुरुष जैसा गुरुदेव का व्यक्तित्व था और कर्तृत्व भी ऐसा ही था।

(—पूज्य भाईश्री शशीभाई)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६ः अंक-२६८, वर्ष-२४, अप्रैल-२०२०

आषाढ़ कृष्ण ४, बुधवार, दि. ६-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७४ प्रवचन-२७

योगसार अर्थात् क्या? योग अर्थात् जुड़ान ऐसा (अर्थ) होता है। किसमें? यह आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप ध्रुवस्वरूप है। यह देह वाणी वह तो मिट्टी जड़ है, उससे पृथक् भी अन्दर पुण्य-पाप के जो शुभ-अशुभभाव होते हैं, विकल्प (होते हैं) वह विकार है, उससे वह पृथक् तत्त्व है, उस आत्मा में...।

यहाँ पर बड़ का दृष्टान्त दिया है। जैसे, बीज में बड़ है ऐसे इस आत्मस्वभाव में परमात्मस्वरूप पूर्ण पड़ा है। समझ में आया? जैसे, पीपर के दाने में... पीपर-पीपर होती है न? वह पीपर, छोटी पीपर; उस एक पीपर में चौसठ पहरी चरपराहट अन्दर भरी है। आकार में छोटी, रंग में काली, तथापि उसके अन्दर स्वभाव में चौसठ पहरी चरपराहट भरी है।

मुमुक्षु :— दस्ता से आती है?

उत्तर :— दस्ता से आवे तो पत्थर नहीं घिस डाले, वह घिसे तब चौंसठ पहरी प्रगट होती है या नहीं? कहाँ से आयी? पत्थर घिसने से आवे तो कोयले और कंकड़ घिसना चाहिए। ठीक है या नहीं इसमें न्याय, लॉजिक से? उस पीपर में चौसठ पहरी चरपराहट भरी है। चौसठ पहरी, वह तो अब सोलह पैसे का रुपया हुआ न? अभी तक तो चौसठ पैसे का रुपया था न? चौसठ पैसा अर्थात् पूर्ण रुपया, सम्पूर्ण अखण्ड। ऐसे पीपर में एक-एक दाने में चौसठ पहरी अर्थात् सोलह आने अर्थात् पूर्ण चरपराहट भरी है। जो पड़ी है, उसकी-प्राप्त की प्राप्ति है; है उसमें से आती है। न हो उसमें से नहीं आ सकती। इसी प्रकार इस देह के रजकणों से भिन्न भगवान आत्मा उसमें चौसठ पहरी अर्थात् पूर्ण ज्ञान और आनन्द उसमें पड़ा है। पीपर का भरोसा किसे आता है क्योंकि वैद्य आदि ने बहुत बार घिसकर देखा होता है। ऐसे उस पीपर का उतना दाना, कद में छोटा, रंग में काला, अल्प चरपराहट बाह्य व्यक्तरूप से अल्प दिखाई देती है, परन्तु अन्तर के स्वभाव में उसका सत्व जो शक्तिरूप है, वह तो पूरी चौसठ पहरी चरपराहट से भरपूर और जिसमें हरा रंग पूर्ण भरा है। बाहर में भले ही काली (दिखाई दे) परन्तु अन्दर उसका स्वभाव काला नहीं है, उसमें हरा रंग भरा है।

ऐसे भगवान आत्मा इस देह में रहनेवाला तत्त्व भले ही शरीर प्रमाण हो, वही यहाँ कहते हैं, तथापि उसके अन्तर सत्व में, अन्तरशक्ति में जैसे - बीज में पूरा बड़ है, पीपर के दाने में जैसे चौसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग पूरा है,

उसी प्रकार यह भगवान आत्मा इसके अन्तरशक्ति के सत्व में, ध्रुवपने में, सत्त्व में ध्रुवपने में पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान, पूर्ण व्यापक पड़ा है। उसे कभी उसका भरोसा आया नहीं। जगत् की वस्तु की महत्ता और महिमा उसे दिखाई देती है। समझ में आया? यह शक्कर होती है न? क्या कहलाती है वह? सेक्रिन। छह सौ गुनी (मिठास) कहते हैं न कोई? छह सौ गुनी मिठास, उसे माने कि यह शक्कर के रजकणों में उसमें अमुक प्रकार के रस की उग्रता होती है, उग्रता होवे तो छह सौ गुनी उसमें होती है। उन रजकणों में रस की ऐसी जाति की ताकत पड़ी है तो छह सौ गुनी (मिठास) उसमें आती है। डली इतनी हो और थोड़ी मिठास हो वह थोड़ी हो और बहुत मिठास हो वह मिठास की दशा की - अवस्था की शक्ति तो उसके रजकण में थी उसमें से प्रगट हुई है।

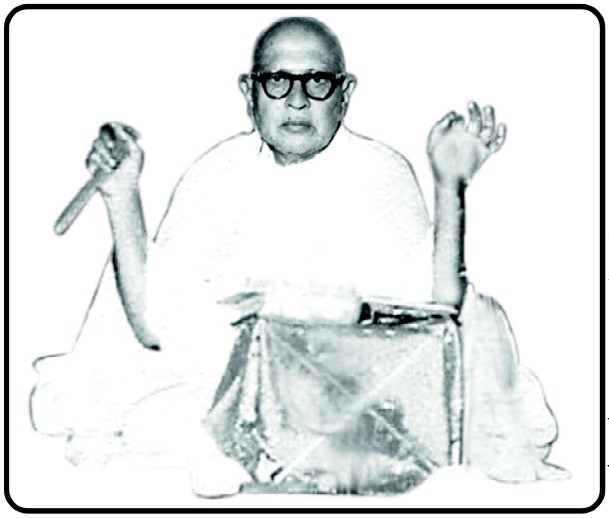

ऐसे ही यह भगवान आत्मा, मैं कौन हूँ और कैसा हूँ? ऐसी उसे खबर नहीं है। उसे तो यह शरीर और वाणी और राग और पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव होवे उतना वह नहीं ऐसा जानने की जो कला अल्पज्ञ वर्तमान दशा दिखती है। अल्प वह पर को जानती है न? उस अल्पज्ञान का विकास है, उतना वह नहीं। जैसे बीज में पूरा बड़ समाहित है, बीज में बड़ है, न होवे तो आया कहाँ से? प्रगट कहाँ से हुआ? कंकण में पानी डाले, कंकण बोये और पानी डाले, बड़ ऊगता होवे तो। उस चीज में बड़ होने की ताकत है, भाई! ठीक है या नहीं इसमें? लॉजिक से तो बात है, इसमें न्याय से जरा इसे जानना पड़ेगा। कंकण बोये नहीं, पानी डाले नहीं, दूध डाले नहीं और उसमें निंबोली बोये, क्या बड़ होगा? उस बड़ के बीज में ही बड़ के होने की ताकत है।

ऐसे भगवान आत्मा देह में रहा हुआ तत्त्व, उसकी वर्तमान प्रगट अवस्था अल्प है। पुण्य-पाप का विकल्प करते हैं, वह विकार है, दु:खरूप है। भगवान अन्तर उसका स्वभाव नित्यानन्दस्वरूप आत्मा, उसके स्वभाव में तो स्थायी आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की पूर्णता से भरपूर वह भगवान आत्मा पूर्ण है। वह पूर्ण है, उसमें से प्राप्त की प्राप्ति होती है। है, कुएँ में होवे तो होज में आये। न हो तो कहाँ से, धूल में से आयेगा? समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा... कहा न? यहाँ तक आया है देखो! वैसा ही आकार मेरे आत्मभगवान का है। पहला पैराग्राफ हुआ है। भावार्थ शुरु से लेते हैं।

देखो! '**अपनी आत्मा अपने शरीर में व्यापक है।**' भगवान आत्मा शरीर प्रमाण परन्तु भिन्न तत्त्व है वे जड़ के आकार, वे तो जड़ हैं। प्रभु! उसमें जैसे पानी का कलश होता है, वह काशी घाट का (होता है) उस कलश का आकार भिन्न है और अन्दर जल - पानी भरा है, उसका आकार भले ही कलशे जैसा उस पानी का आकार है; परन्तु वह पानी का आकार कलश से भिन्न आकार है। समझ में आया? ऐसे ही यह शरीर कलशघाट का शरीर है न? देखो न यह। यह (शरीर) काशी घाट का कलश है, उसमें भगवान

आत्मा चिदानन्द विराजमान है। वह भी उसका आकार, उसकी आकृति भी शरीर प्रमाण भिन्न है। शरीर प्रमाण (होने) पर भी भिन्न है और उसके स्वभाव में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन (विद्यमान है)। जिसका स्वभाव जानना, उस जानने के स्वभाव की शक्ति की मर्यादा, माप कैसे होवे? वह स्वभाव बेहद ज्ञान, बेहद दर्शन, अमाप शान्ति, अमाप आनन्द, (शान्ति अर्थात् चारित्र) अमाप अतीन्द्रिय आनन्द का रसकण (अन्दर) आत्मद्रव्य में पड़ा है। समझ में आया?

ऐसे आत्मा को शरीर प्रमाण होने पर भी '**यह आत्मा स्वयं तीन लोक में मुख्य पदार्थ परमात्मादेव है।**' स्वयं ही परमात्मादेव है। परमात्मा हुए वे अपने स्वरूप से हुए। समझ में आया? वह भी स्वतन्त्र; जैसे लाखों करोड़ों गुनी पीपर होने पर भी, प्रत्येक पीपर में पूरी-पूरी ताकत है और पूरी-पूरी प्रगट होती है। वैसे ही अनेक आत्माएँ हैं तथापि एक-एक आत्मा में परिपूर्ण... बड़ में जैसे बीज या बीज में बड़ है, (वैसे ही) भगवान आत्मा परिपूर्ण शक्ति आनन्द आदि से भरपूर तत्त्व है। समझ में आया?

आत्मदेव को देखें तो इस शरीर से दिखता है परन्तु उसे शरीर से नहीं देखना चाहिए, कहते हैं। समझ में आया? अथवा संयोगी कर्म के कारण भी उसमें विकार या कोई विशुद्धि ऐसी दशा के भेद दिखें उन भेदों को न देखकर अकेला चैतन्यद्रव्य स्वभाव, वस्तु स्वभाव देखें तो अभेद अखण्ड आनन्दकन्द है। उस पर दृष्टि देने से आत्मा को शान्ति होती है, सम्यग्दर्शन होता है और स्वतन्त्र सुख की अन्तर में जो शक्ति पड़ी है, उसमें अन्तर एकाकार होने पर अन्तर के आनन्द की झलक, उसकी श्रद्धा के ज्ञान में अन्तर में ढलने पर होती है। जैसे पीपर को घोंटने पर जैसे पाँच-दस पहरी, पच्चीस पहरी होती है, अन्त में चौंसठ पहरी होती है, अन्त में त्रेसठ है न? त्रेसठ का व्यय, त्रेसठ का अभाव होकर चौंसठ हुई है। उस त्रेसठ में से चौसठ नहीं आयी है। थोड़े में से अधिक नहीं आयी है। त्रेसठ गयी और चौसठ हुई वह चौसठ, अन्दर में से, शक्ति में से आयी है। समझ में आया? ऐसे भगवान आत्मा, अन्तर में यह जो अल्पज्ञान बाहर में प्रगट दिखाई देता है, राग दिखता है, वह राग इसकी वस्तु नहीं है, विकृतभाव है। अल्पज्ञान दिखता है उतना वह नहीं है। क्योंकि अन्तर में एकाकार होने पर ज्ञान की शक्ति की व्यक्तता प्रगटता विशेषता दिखती है, तो वह विशेष ज्ञान की दशा दिखती है, वह पूर्व की दशा गयी उसमें से नहीं आती; वह विशेष शक्ति में से अन्दर शक्ति पड़ी है उसमें एकाकार होने पर ज्ञान की कला की उग्रता जो प्रगट दशा में होती है, उस कला का धाम वह चैतन्य द्रव्य और ध्रुव स्वभाव है। उसकी खान में से वह कला प्रगट होती है। समझ में आया?

यह आत्मा कैसा है? इसने कभी अनन्त काल में जाना नहीं है। समझ में आया? 'नरसिंह मेहता' कहते हैं न? 'ज्या लगी आत्मतत्त्व जान्यों नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी'। भाई! सुना है न? है? 'जब तक आत्मतत्त्व जाना नहीं, तब तक साधना किसकी? शुं कर्युं तीर्थ ने तप करवा थकी?'। तेरे सब व्रत और नियम शून्य है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यात्रा, भक्ति, पूजा, और भगवान के समक्ष घण्टा बजाना... परन्तु यह आत्मा क्या है? ऐसे तत्त्व के सामर्थ्य के अनुभव और प्रतीति के बिना यह सब निरर्थक चार गति में भटकने के लिये है। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा... '**द्रव्यदृष्टि से जीव के साथ कर्मों का संयोग नहीं दिखता है।**' इस ओर है भाई! वस्तु दृष्टि से देखें, जैसे उस पीपर को उसकी शक्ति के सत्व

से देखें तो वह काली और अल्प चरपराहट उसमें नहीं है, उसमें तो पूर्ण चरपराहट से भरपूर और पूर्ण हरे रंग से भरपूर वह तत्त्व है। ऐसे ही भगवान आत्मा को वस्तु से देखें, उसके पदार्थ के सत्व से देखें तो उसे कर्म के संग से (हुआ) विकार वह उसमें है ही नहीं। ऐसे ही कर्म के घटने से, पुरुषार्थ से कहीं कर्म घटते हैं और विशुद्धि थोड़ी बढ़ती है ऐसे भङ्ग भी जिस अन्तर वस्तु में नहीं हैं, जैसे पीपर में दो पहरी, पाँच पहरी, दस पहरी प्रगट होती है परन्तु वे सब भङ्ग अन्तर में ऐसे नहीं हैं। अन्तर में तो पूर्ण, पूर्ण, पूर्ण, पूर्ण पड़ा हुआ है। शशीभाई!

मुमुक्षु :— दृष्टान्त में तो बात बैठ जाती है?

उत्तर :— वह दृष्टान्त (किसलिए देते हैं)? दृष्टान्त के लिये दृष्टान्त है, या सिद्धान्त के लिये दृष्टान्त है? सिद्धान्त के लिये दृष्टान्त है या दृष्टान्त के लिये दृष्टान्त है? दृष्टान्त में से अमुक सिद्धान्त निकालने के लिये दृष्टान्त है। समझ में आया?

कहते हैं, यदि भगवान आत्मा को वस्तु दृष्टि से देखें, यथार्थ दृष्टि से अन्तरदृष्टि करने से अन्तर पूर्ण ज्ञान आनन्द से देखें, तो उसे कर्म का संयोग और उसके निमित्त से स्वयं पुरुषार्थ से उल्टा विकार, पुण्य-पाप करे और अल्पज्ञपना, यह सब उसमें पूर्ण दृष्टि से देखें तो नहीं है। समझ में आया?

'**इस दृष्टि से कर्म सापेक्ष हो जाते हैं। कर्मों की अपेक्षा न लेनेवाले द्रव्यार्थिकनय में इस क्षायिकभाव का भी विचार नहीं आ सकता।**' जरा सूक्ष्म बात है। आत्मवस्तु, उसकी पूर्ण शक्ति का सत्व देखने से उसकी प्रगट अवस्था जो राग का अभाव होकर, कर्म का अभाव करके, पुरुषार्थ द्वारा जो दशा प्रगट होती है; वह दशा भी क्षणिक अवस्था की पूर्णता है, क्षणिक अवस्था की पूर्णता है, सम्पूर्ण पूर्णता नहीं है। समझ में आया? कभी इसने अपनी जाति क्या है? उसे देखा नहीं, बाकी पढ़-पढ़ कर पढे सब जगत के व्यर्थ और शास्त्र पढ़े परन्तु शास्त्र में से क्या निकालना है, इसका पता नहीं है।

यह भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शान्ति के, पूर्ण स्वच्छता के, पूर्ण प्रभुता के सामर्थ्य से-स्वभाव से भरपूर वह पदार्थ है। उस दृष्टि से देखें तो उसे जो नयी दशा प्रगट होती है, उसकी भी जिसके त्रिकाल द्रव्य की दृष्टि में अपेक्षा नहीं रहती। कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं? मांगीरामजी! वह तो अनादि से अनन्त काल तक सर्व वस्तु को अपने मूल स्वभाव में दिखानेवाला द्रव्यार्थिकनय है। द्रव्य-वस्तु को देखने की दृष्टि से अनादि-अनन्त सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... है... है... है... है... है... है... (जिसकी) आदि नहीं, अन्त नहीं, उत्पन्न नहीं, नाश नहीं। ऐसा जो आत्मपदार्थ ध्रुव सत्, है... है... है... ऐसा उसका ज्ञान-आनन्द है... है... है... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... है। आहा...हा...! विमलचन्दजी!

इसने कभी आत्मा क्या है? कैसा, क्यों है? (वह नहीं देखा)। वह ऐसा कहता है कि अपने को कुछ पवित्रता प्रगट करनी है। ऐसा कहते हैं न? उसका अर्थ यह हुआ कि उसकी वर्तमान दशा में पवित्रता नहीं है यदि वर्तमानदशा-हालत में पवित्रता होवे तो पवित्रता प्रगट करनी है, यह नहीं रहता। तब इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी दशा में-हालत में वर्तमान में तो अपवित्रता है। अब मुझे पवित्रता करनी है - ऐसा कहनेवाला पवित्रता लायेगा कहाँ से? जो अपवित्रता है, उसमें से पवित्रता आयेगी? अपवित्रता जाये, उसमें से पवित्रता आयेगी? अपवित्रता की दशा जाये और पवित्रता अन्दर में पड़ी है उसमें से आयेगी, भाव में से भाव आता है।

मुझे अपवित्रता मिटाना है और पवित्रता

चाहिए; उसका सिद्धान्त यह हुआ कि उसकी दशा में अपवित्रता है, वह नष्ट हो सकती है और उसके स्थान में पवित्रता लायी जा सकती है परन्तु वह पवित्रता कहाँ से आयेगी? अपवित्रता की दशा गयी, उसमें से आयेगी? गयी उसमें से वह तो अभाव हो गया। अन्दर में जो भाव है, त्रिकालभाव पवित्रस्वरूप है, उसमें एकाकार करने पर उसकी अपवित्रता मिटकर पवित्रता प्रगट होती है।

यहाँ तो कहते हैं कि पूर्ण पवित्रता प्रगट हो वह भी एक हालत और दशा है। भाई! आहा...हा...! जहाँ वस्तु को अन्तर एकरूप चिदानन्द पूर्ण शक्ति का सत्त्व जहाँ देखना है; उसे तो विकारवाला नहीं, शरीरवाला नहीं, यह अल्पविकास हुआ वह नहीं और पूर्ण विकास की दशा तो उसमें से नयी प्रगट हुई उतना भी नहीं, वह तो त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, त्रिकालपूर्ण आनन्द और शान्तरस का कन्द है। समझ में आया? उसे देखने पर दृष्टि में एक ही वस्तु दिखती है, पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... बस! इस दृष्टि से देखने पर आत्मा को सम्यग्दर्शन और शान्ति की दशा प्रगट होती है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया?

इस दृष्टि से देखने पर आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध न कभी था, न है, न होगा। कर्म है परन्तु वस्तुदृष्टि से देखा जाये तो कर्म का सम्बन्ध आत्मा को है ही नहीं। भगवान पूर्णानन्द प्रभु है परन्तु उस दृष्टि का जोर कहाँ से लाना? कर्म का सम्बन्ध होने पर भी नहीं। आहा...हा...! पुण्य-पाप के जैसे भाव करता है - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वह शुभभाव है पुण्य है, उससे पुण्य बन्धन होता है, कर्म रजकण (बंधते हैं)। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना वह पापभाव है, उससे पापबन्धन (होता है)। परन्तु वह कर्म रजकण है, वह रजकण है, वह कहीं आत्मा की मूल चीज नहीं है तथा जिस कारण से कर्म बँधा, ऐसा भाव वह भी कृत्रिम विकार है, उसके लक्ष्य से नहीं देखकर वस्तु की दृष्टि से देखो तो उसे कर्म का सम्बन्ध भी नहीं है। कर्म (का सम्बन्ध) था भी नहीं, सम्बन्ध तीन काल में नहीं हैं। यह तो नहीं परन्तु विकार की वृत्ति जो उत्पन्न होती है, वह भी वस्तु की दृष्टि से देखने पर उसमें नहीं है। इतनी दृष्टि के जोर से जब आत्मा का स्वीकार हो, उस दृष्टि के जोर से यह आत्मा परिपूर्ण अखण्डानन्द एकरूप है - ऐसा दृष्टि के जोर से स्वीकार होता है, विकार और कर्म का सम्बन्ध मुझे है ही नहीं ऐसी दृष्टि होने पर उसे अन्तर में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति का अंश, शान्ति का कण अन्तर में से प्रगट होता है।

कौन कहता है (बाहर में सुख है)? धूल में भी सुख नहीं है, सुख तो यहाँ है। मर गया बाहर में, सुख (खोजकर)। वह आत्मा में होता है, या आत्मा का सुख पर में होता है? धूल में सुख होता है? इस शरीर में, मांस में, हड्डियों में, पैसे में, दाल, भात, मौसमी, मक्खन, रेशम के गद्दे, धूल में सुख होगा? इसका सुख वहाँ होगा? इसे खबर नहीं है। आत्मा में इसका अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर वह तत्त्व है, सच्चिदानन्दस्वरूप- सत् शाश्वत्, चिद - ज्ञान और आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द परिपूर्ण प्रभु आत्मा है। समझ में आया? इस दृष्टि से देखने पर कर्म के सम्बन्ध के और कर्म के सम्बन्ध से होनेवाली दशायें, उसकी दृष्टि के विषय में वे नहीं आती है - ऐसी दृष्टि प्रगट करने का नाम सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...! कैसा सुख होगा इन पैसों में? है? तो किसलिए तुम्हारे (बेटे) वहाँ जाते? वहाँ हैरान होता है। कहो, (वहाँ जाकर) हैरान होता है। लड़के को अमेरिका में दस हजार का वेतन मिलता है न! हैरान होने गया है, वहाँ हैरान होने। वह स्वयं कहता है,

हाँ, वह स्वयं। उसमें धूल में सुख नहीं है। वह बेचारा आवे तब कहता है, उसमें कुछ नहीं। करने का तो यह है ऐसा कहता है। महीने का दस हजार वेतन हो या बीस हजार हो, (उसमें) आत्मा को क्या? हैरान, आकुलता है। आकुलता... आकुलता... आकुलता... यह आया न, आ गया। विकल्प हाँ! विकल्प, विकल्प की होली है, वह चीज तो यहाँ स्पर्श भी नहीं करती। यहाँ स्पर्श करती है? प्रवेश करती है यहाँ? आत्मा तो अरूपी भगवान है, उसे रूपी स्पर्श करता है? वे तो रूपी परमाणु जड़, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाले हैं। विकल्प उठावे, विकल्प! यह मुझे मिला, मैंने हटाया - ऐसे विकल्प की वासना उठावे वह दु:खदायक विकल्प है।

जिसे सुख और शान्ति अर्थात् स्वतन्त्रता चाहिए, उसे इस कल्पना से पार चैतन्य भगवान पूर्णानन्द है, उसकी दृष्टि करना चाहिए। उस दृष्टि में स्वतन्त्रता प्रगट होकर शान्ति प्रगट होती है, इसके अतिरिक्त कोई सुख का रास्ता नहीं है। समझ में आया?

'**तीन काल में एक स्वरूप में शुद्ध स्फटिक मणि के समान दिखनेवाला यह आत्मा है।**' जैसे, स्फटिक मणि, शुद्ध स्फटिक मणि, शुद्ध-श्वेत है; उसे वर्तमान में काले, लाल, फूल के निमित्त से अन्दर जो काला, लाल, रंग दिखता है, वह कहीं स्फटिक का मूल स्वरूप नहीं है। ऐसे स्फटिक की मूल चीज से देखो तो काले, लाल फूल में जो काला लाल दाग दिखता है, वह उसका स्वरूप नहीं है। ऐसे ही यह भगवान तो चैतन्यस्वरूप स्फटिक है। वह पत्थर तो जड़ स्फटिक है। चैतन्य स्फटिक, ज्ञानानन्द स्फटिक मूर्ति प्रभु निर्मलानन्द है; इस दृष्टि से देखो तो उसमें पुण्य-पाप के विकार का दाग भी उसके स्वरूप में नहीं है। आत्मा की ऐसी दृष्टि करने का नाम धर्मदृष्टि है और यह धर्मदृष्टि के बिना तीन काल में किसी को धर्म नहीं होता। समझ में आया? बहुत कठिन पड़ता है ऐसा कितने ही कहते हैं। है?

धर्म बिना कहाँ सुखी था? धूल में। सुख कहाँ से आया? यह बात तो पहले की है कि धर्म के बिना सुख नहीं है। धर्म / सुख वह आत्मा में है। आनन्दकन्द प्रभु सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञाता और आनन्द का भण्डार परिपूर्ण है, पीपर के दाने की शक्ति के दृष्टान्त से उसमें अन्तरदृष्टि देने पर सुख होवे ऐसा है। वरना धूल में कहीं सुख नहीं है। सेठिया और राजा, भिखारी, भिखारी सब दु:खी है। करोड़पति, अरबोंपति जड़ के पति हैं, चैतन्य के पति नहीं। मलूकचन्दभाई? जड़ का पति? कल्पना से मानता है, (धूल में कहीं सुख नहीं है।) उसके पास यहाँ (जड़) चीज कब आती है? आहा...हा...!

भगवान सत्स्वरूप कायम असली वस्तु, जिसकी शक्ति में अकेला आनन्द व ज्ञान और शुद्धता की परिपूर्णता है, कहते हैं कि ऐसी दृष्टि से देखने पर उसे यह नारकी और मनुष्य, देव और राग और द्वेष, इस दृष्टि से देखने पर उसमें नहीं है और वह दृष्टि करना वही आत्मा को हितकर है। समझ में आया?

'**पर्याय की दृष्टि से...**' अवस्था दृष्टि से देखें तो दिखता है। वर्तमानदशा में राग है परन्तु वह दृष्टि तो जानने योग्य है। वह कहीं आदरणीय नहीं है। आदर करने योग्य तो अन्दर त्रिकाल (स्वरूप है)।

विकल्प होने पर भी मेरे स्वरूप में नहीं है ऐसी पूर्णानन्द की दृष्टि का आश्रय करना, वह सुखी होने का मार्ग है। कहो, समझ में आया?

वास्तव में '**पर का ग्रहण और स्वगुण के त्याग से रहित है।**' अन्तिम (लाइन) है। भगवान आत्मा, राग का भी जिस स्वभाव में ग्रहण

नहीं है और अपने शुद्ध ध्रुव गुण को कभी छोड़ा नहीं है। शुद्ध ध्रुव गुण जो शक्ति, पीपर ने चौंसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग कभी छोड़ा नहीं है और उस शक्ति ने कभी काला रंग ग्रहण किया नहीं है और जो बाहर की कड़करायी होती है न पीपर के ऊपर? उसे अन्दर के स्वभाव में उसने ग्रहण नहीं किया है। ऐसे ही भगवान आत्मा, उसके ज्ञान आनन्द स्वभाव में, एकाकार में उसने पुण्य-पाप के विकार और अल्पज्ञता अन्दर में ग्रहण नहीं की है और अपना ध्रुव शाश्वत् स्वभाव है, वह कभी उसने छोड़ा नहीं है। समझ में आया? यह किस प्रकार का धर्म है? वह तो मन्दिर बनाना, पूजा करना, भक्ति करना, चलो 'शत्रुञ्जय जा आवें, वहाँ जा आवें तो धर्म हो गया।' धूल में भी धर्म नहीं है। तेरे 'शत्रुञ्जय' जा और लाख बार ऊपर चढ. और नीचे उतर (तो भी धर्म नहीं है)। समझ में आया? शुभराग हो, पाप से बचने के लिये शुभराग है। धर्म नहीं, धर्म नहीं, धर्म नहीं। समझ में आया? यह सब बहुत बात की है।

'**जब सर्व को एक समान शुद्ध देखा गया तब न कोई मित्र है न कोई शत्रु अपने को और सर्व को समान देखने पर राग-द्वेष का पता ही नहीं लगता।**' भगवान आत्मा अपने शुद्ध ध्रुव स्वभाव को देखने से, जिसमें राग-द्वेष भी नहीं है ऐसा देखने से, जिसमें स्वतन्त्रता प्रगट होती है तो उस प्रकार दूसरी आत्माएँ भी शुद्ध ध्रुव सत्व से भरपूर है, ऐसा देखने पर उनके प्रति राग-द्वेष करने का अवसर नहीं रहता। भाई! समझ में आया? वह आत्मा भी पूर्णानन्द और सच्चिदानन्द ध्रुव शाश्वत् शक्ति में परिपूर्ण है। जैसे अपनी दृष्टि से अपना स्वरूप देखने पर स्वयं को शान्ति और विकाररहित भासता है, इस दृष्टि से दूसरे समस्त आत्माओं को देखो तो वे आत्माएँ भी पूर्णानन्द से भरपूर है। उनके राग-द्वेष आदि न देखे तो यह व्यक्ति मेरा विरोधी है और यह व्यक्ति मेरा मित्र है। यह बात नहीं रहती है। आहा...हा...!

सर्वत्र समभाव और शान्तरस बहता है। भगवान आत्मा, अकेले शुभ-अशुभ विकल्प राग कषायभाव से रहित है - ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करने पर अपने को शान्ति आती है और दूसरे आत्माओं को भी इस प्रकार देखने से उनके प्रति अनादर या कलुषितता नहीं होती। उनके स्वभाव पर समभाव, समभाव (रहता है)। भगवान है, वे भी भगवान हैं। जिस दिन अपने को सम्हालेंगे उस दिन भगवान हो जायेंगे। समझ में आया? दूसरा कोई भगवान होने नहीं आयेगा, परमात्म शक्ति उनमें भी पड़ी है।

'**निर्ग्रन्थ मुमुक्षु को उचित है कि इस तरह समभाव में रमण करके सामायिक चारित्र का पालन करे।**' सामायिक चारित्र। सामायिक अर्थात् अन्तर समता प्रगट करना। पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... ओहो...! जिसका स्वभाव पूर्ण स्वभाव, उस पर दृष्टि जाने पर पूर्ण का स्वीकार करने पर अन्तरदृष्टि में समताभाव प्रगट होता है। वह समताभाव प्रगट होता है, उसे सम्यग्दर्शन और धर्म कहते हैं। धर्म कोई ऐसी चीज नहीं है कि ऐसा करें और ऐसी पूजा करें और भक्ति किया और व्रत किया और यह पालन किया और उपवास किया... होली करे! उपवास का विकल्प तो शुभराग है। समझ में आया? यह बात दुनिया से अलग प्रकार की है। '**स्वानुभव में लीन होकर सर्व नयों के विचार से रहित आत्मानन्द में मस्त हो जावे।**' (फिर) 'समाधिशतक' का दृष्टान्त दिया है।

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-१५१ पर भाववाही प्रवचन, दि.१६-१-१९८३, प्रवचन क्रमांक-५५ (विषय : मार्गदर्शन)

शंका :— तो फिर हम शास्त्र पढ़े या नहीं?

समाधान :— आत्मलक्ष्य से शास्त्र पढ़ना-ऐसा प्रवचनसार में कहा है, क्योंकि शास्त्रों का कहना ऐसा है कि भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत आनन्द की मूर्ति है—उसका ज्ञान करना, अनुभव करना। करणानुयोग या चरणानुयोग के पढ़ने से लाभ क्या?—कि उन चारों अनुयोगों के पढ़ने का गुण तो आत्म-अनुभव प्राप्त करना है—यही शास्त्र पढ़ने का लाभ है अर्थात् 'आत्म-अनुभव करना ही शास्त्राभ्यास का तात्पर्य है।' १५१

१५१ नंबर का बोल है। १५० नंबर के बोल का अनुसंधान का विषय है। समयसार गाथा-२७४। गाथा का मूल विषय यह है कि शास्त्र पढ़ने का लाभ क्या? गुण यानि लाभ। शास्त्र स्वाध्याय का गुण क्या? पूज्य गुरुदेवश्री ने ऐसा फरमाया है कि जैसे भक्ति, दान, पूजा, यात्रा, व्रत, नियम, संयम, तप इत्यादि शुभराग के परिणाम बन्ध का कारण है, वैसे शास्त्र स्वाध्याय का राग है वह भी पुण्यबन्ध का कारण है। उसमें से प्रश्न उठा कि वह राग पुण्यबन्ध का कारण है, लेकिन यथार्थपने शास्त्र स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र में जो कहना चाहते हैं, उस शास्त्रज्ञान का यदि अम्लीकरण करे, शास्त्र की आज्ञा का यदि जीव अम्लीकरण करे तो राग से और देह से भिन्न जो ज्ञान वस्तुमय आत्मा है उसका अनुभव हो। क्योंकि उसमें वह विधान है। विधि-विधान जो कहने में आता है वह, स्वरूपानुभव करना, राग से और देह से भिन्न, भिन्न वस्तुभूत आत्मा है, ऐसे ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान करना, अनुभव करना ऐसी जो विधि दर्शायी है उसका अम्लीकरण करे तब उसने, अम्लीकरण करे अर्थात् आचरण करे, पढ़े तब तक राग है, शास्त्र पढ़ता है तब तक राग है, लेकिन शास्त्र में जो कहा है उस अनुसार आचरण करे, अंतरंग आचरण करे, स्वरूप सन्मुख होकर आचरण करे तब उसे उपचार ऐसा कहने में आता है कि वह शास्त्र स्वाध्याय का गुण है। ऐसा जब आत्मलाभ हो तब उसे शास्त्र स्वाध्याय का गुण हुआ ऐसा कहने में आता है। वह लाभ है।

परन्तु जिसे ऐसा ज्ञान नहीं हुआ, तो वह शास्त्र स्वाध्याय किया तो क्या हुआ? कि उसको कुछ नहीं हुआ। उससे कोई लाभ नहीं है। पुण्यबन्ध हुआ वह कहीं आत्मा को लाभ हुआ ऐसा कह नहीं सकते। वास्तव में तो पुण्यबन्धन है, आत्मा

का ज्ञान और भान बिना जो कुछ पुण्य बन्धन होता है, वह पुण्य परंपरा पाप का कारण होता है। पुण्य, पाप का कारण होता है। क्योंकि वह पुण्यबन्ध जो होता है, उसका जब उदय आता है तब भोगोपभोग की विषयसामग्री आसपास एकत्रित होती है और जीव को असंगतत्त्व का भान नहीं होने से, इन सर्व सामग्रीओं से मैं असंग हूँ ऐसा असंगतत्त्व का अंतर में भान नहीं होने से, वह उसके अन्दर लिप्त हो जाता है। तब वह नये तीव्र पाप बाँधता है।

देवलोक के जीव ऐकेंद्रिय में विशेषतः जाते हैं। मनुष्यमें से सीधे ऐकेंद्रिय में जानेवालों की उतनी संख्या नहीं है, जितनी देवमें से सीधे ऐकेंद्रिय में जाते हैं। मिथ्यादृष्टि देव तीव्ररूप से बाह्य संयोगों में इतने रस से परिणमते हैं, उन्हें अंत समय में परिणाम बहुत बिगड़ते हैं। यहाँ क्या है कि अचानक मृत्यु आती है। ... है न? उसे छः महिने पहले कह देता है, ... गले की माला कह देती है। उसके फूल मुरझाने लगते हैं वह उसकी एक निशानी-सिग्नल मिलता है आज से छः महिने के बाद आप की यह स्थिति पूरी हो रही है। सर्वस्वपने उसने वहाँ माना होने से परिणाम बहुत बिगड़ते हैं। ये सब संयोग का वियोग होगा, उसमें तड़प-तड़पकर मरे ऐसी उसकी परिस्थिति है। उस परिणाम से उसको ऐकेंद्रियादि की गति हो जाती है।

मुमुक्षु :— मति ऐसी गति...

पूज्य भाईश्री :— जैसी मति ऐसी ही उसकी गति हुई। उसकी मति ही ऐसी थी। जड़ में अत्याधिक रस लेना, जड़ जैसा हो जाने की मति थी। जैन संप्रदाय के सिवा ऐकेंद्रिय जीवों को लोग जीवस्वरूप स्वीकारते ही नहीं है। पत्थर का जीव, पृथ्वी का जीव, पानी का जीव, अग्नि का जीव। उसको तो सब जड़ ही मानते हैं। कोई उनको जीवस्वरूप में स्वीकारता ही नहीं। उसका कारण क्या है? कि जड़ में तन्मय, अत्यंत तन्मयपने उसकी परिणति काम करती है। अतः जैसी मति ऐसी गति।

मुमुक्षु :— अग्नि का जीव यानि अग्नि प्रगट होती है वह जीव है?

पूज्य भाईश्री :— हाँ। वह जो अग्नि दिखती है न? वह उसका देह है। जैसे, अभी यह देह दिखता है। आत्मा किसी का दिखता नहीं। आप के-मेरे देह को हम देखते हैं। आत्मा अरूपी है। कोई चक्षु इन्द्रिय से आत्मा दिखता नहीं। परन्तु जो दिखता है वह देह है। पानी जो दिखता है वह पानी काय है। जलकाय कहते हैं, अग्निकाय कहते हैं, वनस्पतिकाय कहते हैं, वायुकाय कहते हैं। वह उसकी काय यानि शरीर है। परन्तु अनन्त जीव है उसमें। एक जीव की वह काय नहीं है। एक पानी का बिंदु दिखता है (वह) अनंत जीवों की काय है। ऐसा है। उसको लोग जीवस्वरूप में स्वीकारे नहीं ऐसी स्थिति में (चला जाता है)। उसने स्वयं अपने आप को स्वीकारा नहीं इसलिये फिर अन्य भी—जगत उसे स्वीकारता नहीं है। यह परिस्थिति उसमें खड़ी होती है।

मुमुक्षु :— अग्नि प्रगट हो और अग्नि बुझ जाये। एक सेकण्ड में जन्म और एक सेकण्ड में जीव मर जाता है?

पूज्य भाईश्री :— हाँ। उसमें तो उस ही में मरते हैं। एक श्वासोश्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। जो जीव वहाँ है वह, वहीं के वहीं एक श्वासोश्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। ऐसा शास्त्रप्रमाण है। अग्नि प्रज्वलित हो तब भी। बुझ जाये तब तो सवाल ही नहीं है कि कोई जीवित है, परन्तु प्रज्वलित हो तब भी उसमें

रहे जीव एक श्वासोश्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं।

मुमुक्षु :— ... प्रगट करने में....

पूज्य भाईश्री :— दोनों में दोष ही है। प्रगट करने में भी दोष है और बुझाने में भी दोष है। इसीलिये तो इच्छामात्र को दोष कहा है। एक तो वह इच्छा स्वयं के आत्मा का घात करती है। उस इच्छानुसार कोई मन-वचन-काया की बाह्य क्रिया होने लायक हो तो वह परजीवों का घात करती है। इच्छा के निमित्त से जो कोई क्रिया होती है वह परजीवों का घात करती है। भगवान सिद्ध परमात्मा को वाणी बन्द रही उसका कारण क्या?

मुमुक्षु :— ... हुई हो तो हमें कुछ...

पूज्य भाईश्री :— बिगड़ा, आत्मा या कोई बाह्य संयोग? लाभ-नुकसान जो हम आँकते हैं वह आत्मा में नहीं होनेपर भी आत्मा का आँकते हैं कि यह मुझे लाभ है, यह मुझे नुकसान है। वास्तव में आत्मा में लाभ-नुकसान है नहीं। फिर भी मान्यता से इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी। उसे लाभ-नुकसान नहीं आँकते हुए भी, उसकी गिनती में इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी। फिर जैसा लाभ होगा वैसी इच्छा, जैसा लाभ निश्चित किया होगा वैसी इच्छा कार्य करेगी। उससे विरुद्ध काम नहीं कर सकेगी।

इसीलिये भगवान की ध्यानस्थ प्रतिमा का स्थापन क्यों है? कि बस! वे उपदेश देते हैं। मौनरूप से, वीतरागी मुद्रा मौनरूप से बोध देती है कि स्वरूपस्थ हो जा। एक क्षण का तेरा प्रथम स्वरूपस्थ का भाव अनंत जन्म-मरण का नाश करता है और मुक्ति का अंकुर उसमें-से फूटता है। मोक्षदशा का अंकुर उसमें-से ऐसा फूटता है कि उसमें-से मोक्षफल प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। ऐसी महिमा प्रथम जघन्य दशा की है। कहने की जरूरत नहीं है कि उस दशा का विकास हो तो विशेष-विशेषरूप से आत्मिक दशा में मुक्ति का आनन्द बढ़ता जाता है और पूर्ण हो जाता है। यह समझाने की आवश्यकता नहीं रहती।

यहाँ कहते हैं कि, प्रश्न उठाया है १५१ में। उसके अनुसंधान में थोड़ा ले लिया। क्योंकि विषय वही चल रहा है। यह बोल भी २७४ गाथा का ही है। '**तो फिर हम शास्त्र पढ़ें या नहीं?**' दूसरी क्रिया को आप बाह्य क्रिया कहो, शुभोपयोग की क्रिया कहो, लेकिन शास्त्र स्वाध्याय तो ज्ञान का निमित्त है, आत्मज्ञान का निमित्त है। हम शास्त्र पढ़ें या नहीं? यह प्रश्न उठाया है। प्रयोजनभूत प्रश्न है।

उसका '**समाधान :— आत्मलक्ष्य से शास्त्र पढ़ना—ऐसा प्रवचनसार में कहा है,...**' आत्मलक्ष्य से शास्त्र पढ़ना ऐसा प्रवचनसार में कहा है। जवाब क्या दिया है? पढ़ना, नहीं पढ़ने का सीधा जवाब नहीं परन्तु आत्मलक्ष्य से शास्त्र पढ़ना। उसका अर्थ यह है कि शास्त्र स्वाध्याय का भी एक सुयोग्य प्रकार है, उस प्रकार से शास्त्र स्वाध्याय की क्रिया होनी उचित है। अन्य अयोग्य प्रकार से शास्त्र स्वाध्याय की क्रिया नहीं होनी चाहिये।

अब उसका थोड़ा प्रथकरण करते हैं। शास्त्र स्वाध्याय के काल में शास्त्र स्वाध्याय की एक इच्छा, शास्त्र की ओर के एक राग का प्रकार उत्पन्न होता है, इच्छा होती है कि शास्त्र पढ़ें। तो शास्त्र स्वाध्याय के काल में ज्ञान का उपयोग भी कार्य करता है कि इसमें क्या कहना चाहते हैं? कि इसमें शुद्धात्मा दर्शाना चाहते हैं, आत्मा शुद्ध स्वरूप को दर्शाना चाहते हैं अर्थात् शुद्ध ज्ञान दर्शाना चाहते हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप दर्शाना चाहते हैं माने क्या? शुद्ध ज्ञान दर्शाना चाहते हैं, मात्र ज्ञान दर्शाना चाहते हैं। तो उससे जो ज्ञान उसमें समझना चाहता है, ज्ञान का स्वरूप, शुद्ध ज्ञान का स्वरूप वह स्वयं का ही स्वरूप समझना है वहाँ। अतः उसका लक्ष्य

बदलना चाहिये। क्या कहते हैं? कि ज्ञान जब ज्ञान का स्वरूप यानि अपना स्वरूप समझने का प्रयास करता है तब उसका झुकाव अपनी ओर आना चाहिये, उसका भाव अपनी ओर आ जाना चाहिये।

मुमुक्षु :— अपनी ओर माने क्या?

पूज्य भाईश्री :— ज्ञान का झुकाव ज्ञान पर आना चाहिये कि इसमें मेरा अकेला स्वरूप क्या है? आत्मावलोकन निकाला है या नहीं? नहीं है? वहाँ तो चार-पाँच नकल पड़ी है। है? आप के घर पर है? बहुत समय के बाद आत्मावलोकन देखा। अभी वहाँ कुदरती अपने स्वाध्याय में वह प्रकरण चल गया। वही प्रकरण चल गया। लेकर नहीं बैठे थे। लेकिन वह पृष्ठ निकला और उसमें-से सब चल गया।

शुद्ध ज्ञान। ज्ञानगुण का स्वरूप ऐसा लिया है। ज्ञान का स्वरूप निर्विकल्प है ऐसा कहा। तो कहते हैं कि लेकिन स्वपरप्रकाशक है। तो स्वपरप्रकाशक निर्विकल्प है। ठीक! यह कैसे? कि जो ज्ञान ज्ञान का अनुभव करता है, जो ज्ञान ज्ञान को वेदता है उसमें स्वयं को विद्यमानरूप अनुभव करता है। ज्ञान स्वयं की मौजूदगी का वेदन करता है—अनुभव करता है तब वह ऐसा अनुभव करता है कि यह मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ, मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ और उसमें कुछ नहीं है (अर्थात्) मेरे सिवा उसमें कुछ नहीं है। स्वयं का शुद्धरूप अनुभव करनेपर, उसमें किसी का प्रवेश नहीं होता, किसी की मिलावट नहीं होती है। उसमें पर का ज्ञान आ जाता है। स्वयं ज्ञान होनेपर पर का ज्ञान कैसे हुआ? निर्विकल्पपने आया कि इसमें मैं ही हूँ और ज्ञानमयपने के सिवा, मेरे ज्ञानमयपने के सिवा इसमें कोई पर नहीं है। और इसीलिये नव तत्त्व में पर को एक अजीव कहकर छोड़ दिया है। नहीं तो उस अजीव में पाँच अजीव है। पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। तो उसमें नव तत्त्व में उसका विस्तार ही नहीं है। एक में पाँच द्रव्य समाविष्ट कर दिये, पाँच द्रव्य के अनंत गुण समाविष्ट किये, पाँच द्रव्य की अनंत पर्यायें आ गयी। एक तत्त्व, उसको नौंवे भाग में एक ही स्थान प्राप्त हुआ और वह भी पर के तौर पर जानने के लिये। पर जाना, पर को पर जाना, इसलिये उसके सिवा उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है कि पर कैसा है। ऐसा कहते हैं।

जिस गाँव जाना नहीं उसका नाम क्यों लेना? ऐसा हमारे यहाँ कहते हैं न? इस प्रकार जो पर, आत्मा को राग का, आकुलता का, अशांति का, दुःख का और परिभ्रमण का निमित्त होता है, उसकी चर्चा क्या करनी? ऐसा कहते हैं। नव तत्त्व में उसको एक अजीवतत्त्व का स्थान दिया। अ-जीव, जीव नहीं ऐसा लिया। जीव के नाम से उसको कह दिया कि अ-जीव है यह। यह जीव नहीं। बस, इतना ही। पुनः उसमें पुद्गल कौन और धर्मास्ति कौन ऐसा नहीं। जीव नहीं उसमें सब आ गये, अजीव कहने-से। ऐसे लिया है। कितना प्रयोजन से नव तत्त्व का संकलन है! प्रयोजन के दृष्टिकोण से दृष्टिपात करे तो ऐसा होता है कि वाह!

मुमुक्षु :— दीपचंदजी का है?

पूज्य भाईश्री :— दीपचंदजी कासलीवाल। गुण का प्रकरण है न? गुण का प्रकरण तो चिद्विलास में आता है। गुण अधिकार। ज्ञानगुण का स्वरूप। है न, १४वें पृष्ठ पर ही है। अब ज्ञान का स्वरूप कहते हैं। "**'ज्ञान' (जानपना) निर्विकल्प है।**' यहाँ-से शुरूआत करते हैं। ज्ञानगुण का स्वरूप कहते हैं। **'ज्ञान' (जानपना) निर्विकल्प है। वह स्वज्ञेय को जानता है। परज्ञेय को ज्ञान यदि निश्चय**

(प्रवचनका शेष अंश पृष्ठ सं.१७ पर)

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी.५ C

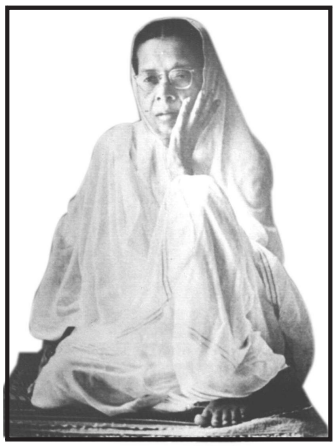

मुमुक्षु :- हे कृपालु माताजी! आप प्रथम वचनामृत में फरमाते हो कि तुझे अच्छा नहीं लगता हो तो अन्दर में जा, वहाँ सुहाये ऐसा है। तो हे माताजी! बाहर में तो हमें अच्छा नहीं लगता। लेकिन अन्दर जा नहीं पाते, तो कृपा करके अन्दर जाने की रीत समझाइये।

समाधान :- बाहर अच्छा नहीं लगता। अन्दर जाने में तो खुद अपने आपको पहचाने तो अन्दर जा सके, पहचाने बिना जा नहीं सकता। स्वयं को पहचाने। स्वयं का स्वरूप क्या है? खुद जाननेवाला है। यह विभाव मेरा स्वभाव नहीं है। स्वयं को पहचाने बिना अन्दर जा नहीं सकता। इसलिये जिसे सच्ची लगनी लगी है वह स्वयं को पहचानने का प्रयत्न करता है। पहचाने। गुरुदेवने क्या मार्ग बतलाया है? गुरुदेवने तो बहुत समझाया है, उसे खुद समझे। अन्दर विचार करे कि द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वरूप है? उसे समझे तो अन्दर जा सकता है। वास्तव में यदि बाहर में अच्छा नहीं लगता हो और वास्तविक आत्मा की लगनी लगी हो तो वह स्वयं को पहचाने बिना रहता ही नहीं। खुद को सच्ची लगनी लगी नहीं है और बाहर विभावसे सचमुच थक गया हो या उसे दुःख लगा हो तो अन्दर जाने का मार्ग वह स्वयं ही कर लेता है और स्वयं ही विचार कर लेता है। द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वरूप है? गुरुदेवने क्या मार्ग कहा है? बाकी अनन्तकाल का अभ्यास है इसलिये उसे अन्दर जाना तो मुश्किल पड़ता है। लेकिन स्वयं को पहचाने तो अन्दर जा सके ऐसा है। और अन्दर में अपना स्वभाव है, इसलिये खुद को सुहाये ऐसा है। बाहर कहीं भी अपना स्वभाव नहीं है। अनंत कालसे उसमें रुक गया है इसलिये बाहर में रुचि हो गई है। बाकी अंतर में यदि रुचि लगे तो सहज स्वभाव अपना है। अपना सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सब सहज है। पहचाने तो अंतर में जा सकता है, पहचाने बिना जा नहीं सकता। भेदज्ञान करे तो जा सकता है। अन्दर स्वयं द्रव्य को पहचाने। द्रव्य पर दृष्टि करे तो जा सकता है, बाकी जा नहीं सकता। स्वयं को पहचाने तो जा सकता है।

प्रश्न पढ़कर (पूछना) ऐसा अभी नहीं रखना है, धारावाही बोलनेसे मुझे श्वास की तकलीफ होती है। इसलिये पढ़कर जो प्रश्न करते हैं, वह एक-दो दिन बाद देखेंगे, ऊपरसे ही प्रश्न आते हैं। एक प्रश्न के बाद दूसरा प्रश्न आता है तो थोड़ा आराम मिलता है। एकसाथ बोलूँ तो श्वास की तकलीफ होती है।

मुमुक्षु :- माताजी! आपने दो दिन गुरुभक्ति बहुत अच्छी करवाई। उस परसे एक प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि सभी ज्ञानियों को और ज्ञानी होनेवाले को क्या ऐसी भक्ति नियमसे आती होगी?

समाधान :- भक्ति तो आती ही है। क्योंकि अन्दर भावना हो तो देव-गुरु-शास्त्र पर भक्ति आये बिना तो रहे ही नहीं। फिर बाह्य क्रिया किस प्रकार की हो उसका कोई नियम नहीं है। उसे भाव में तो भक्ति आये बिना रहती नहीं। क्योंकि खुद को जिस मार्ग की रुचि हुई है, स्वयं को जो आत्मा के स्वभाव का प्रेम हुआ है, वह स्वभाव जिसने प्रगट किया और जिसने पहचान करवाई ऐसे गुणसे भरे देव, गुरु और शास्त्र पर उसे भक्ति आये बिना रहती नहीं। उसे ऐसा नहीं लगता कि यह मेरा स्वभाव नहीं है, यह तो शुभभाव है, ऐसा नहीं होता। दृष्टि में वह समझता है कि यह शुभभाव मेरा स्वभाव नहीं है। बाकी जबतक पूर्णता प्राप्त नहीं हुई तबतक देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आये बिना रहती नहीं। फिर शब्दों में आये नहीं आये, बाह्य क्रिया में आये नहीं आये, लेकिन उसे अंतर में तो आये बिना रहती नहीं।

मुमुक्षु :- बाहर में कोई व्यक्त कर सके या नहीं भी कर सके।

समाधान :- हाँ, नहीं भी कर सके। लेकिन उसे अंतर में भावना आये बिना रहती नहीं। आचार्य भी लिखते हैं, पहले भगवान का नाम लिखते हैं। जो जिनवरने कहा है वह मैं कहता हूँ। आचार्य भी ऐसा कहते हैं। और विचार करे, मुनि आदि विचार करे तो द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप विचारे तो भगवानने क्या कहा है? ऐसे उन्हें भगवान का विचार आये बिना रहता नहीं।

मुमुक्षु :- इतनी उच्च भूमिका में पहुँचने के बाद भी ऐसा विनय का भाव आता है, तो सामान्य ज्ञानी को और ज्ञानी होनेवाले को ऐसा भक्तिभाव अन्दर आता है।

समाधान :- आना चाहिये। दो द्रव्य भिन्न है और मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये उसमें-से भक्ति ऊड़ नहीं जाती। वह तो वस्तुस्वरूप समझना है कि दो द्रव्य भिन्न हैं और शुभभाव है वह मेरा स्वरूप नहीं है। उससे भी स्वयं भिन्न है। ऐसे वस्तु स्वरूप समझे, उस रूप परिणति हो। लेकिन अधूरी भूमिका में शुभभाव आये बिना रहते नहीं। तो जिज्ञासु की भूमिका में भी गुरुने क्या कहा है? गुरु का आशय क्या है? ऐसी भावना आये बिना रहती नहीं, ऐसे विचार आये बिना रहते नहीं। फिर ऐसा नहीं आता कि मैं सब समझ गया, अब क्या काम है? ऐसे विचार नहीं आते। उसे ऐसा लगता है कि अभी तो बहुत करने का बाकी है। वहाँ समझ गया ऐसा कहाँ आता है? अभी तो सम्यग्दर्शन होने के बाद भी ऐसा नहीं आता कि समझ गया। तो फिर जहाँ समझा ही नहीं है वहाँ मुझे सब समझ में आ गया (ऐसा कहाँ-से आये)? भावना नहीं आती? गुरुने कहाँ क्या कहा है? उनका आशय क्या है? कितना समझना है? ऐसा उसे आये नहीं, जहाँ यथार्थ मुमुक्षुता प्रगट हुई है वहाँ ऐसा नहीं आता।

मुमुक्षु :- माताजी! मुझे तो थोड़ा और भी पूछना है कि देव-गुरु के प्रति तो प्रत्येक ज्ञानी को अथवा ज्ञानी होनेवाले को भक्ति आती ही है, लेकिन खुद के जो उपकारी हैं उनके प्रति देव-गुरुसे भी अधिक भक्ति का भाव आता होगा, ऐसा है?

समाधान :- अपने उपकारी है?

मुमुक्षु :- हाँ, स्वयं को जिसके निमित्तसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है अथवा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने में निमित्तकारण हो सके ऐसा है, उनके प्रति सामान्य देव-गुरु के प्रति जो भक्ति का भाव आता है उससे भी ज्यादा भक्ति आये उसका कोई नियम है क्या?

समाधान :- जिसने उपकार किया है, मार्ग जिसने प्रगट किया है ऐसे गुरु, जिन्होंने मार्ग बताया ऐसे गुरु, मार्ग में जो निमित्त हुए हैं ऐसे गुरु, उनके प्रति विशेष भक्ति यानि देव-गुरु-शास्त्र सब, गुण अपेक्षासे वह सब समझता है कि जो पूर्ण हो गये, जो मुनि साधना करते हैं उनकी क्या भूमिका, देव की क्या भूमिका उस अनुसार सबके प्रति भक्ति आती है। लेकिन यह उपकारी गुरु हैं, ऐसा समझकर उसप्रकारसे उस अपेक्षासे विशेष आती है।

मुमुक्षु :- नियमसे आती है। प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार, एवो लक्ष्य थया विना, ऊगे न आत्मविचार।

मुमुक्षु :- आप की दो दिन की भक्ति सुनने के बाद मुझे ऐसा ही भाव आया कि आपने कहा वह बराबर है कि देव के स्वरूप को यथार्थ समझे, निर्ग्रंथ गुरु हो तो उनके स्वरूप को यथार्थ समझे, ऐसा होनेपर भी जिनका प्रत्यक्ष उपकार हुआ है अथवा जिनका उपकार प्रत्यक्ष होने की संभावना है, उनके प्रति ज्ञानी को और मुमुक्षु को विशेष भक्ति आये, ऐसा नियम होगा क्या?

समाधान :- विशेष आये, ऐसा नियम है। आये बिना रहे ही नहीं। उसमें दूसरे का निषेध नहीं होता। सब जैसा है वैसा (समझता है), भक्ति यथायोग्य भूमिका देव-गुरु-शास्त्र (की है) उस अनुसार ही आती है। लेकिन उपकार हुआ है उनके प्रति विशेष आती है।

मुमुक्षु :- कुन्दकुन्दाचार्यने कहा, जिन कथन भाषा सूत्रमय, शाब्दिक वः ए जाण्युं शिष्ये भद्रबाहु तणा अने एम ज ... जस बोध द्वादश अंगनो, चौदश पूर्व विस्तारनो, जय हो श्रुतंधर भद्रबाहु गमकगुरु भगवाननो। वह कोई कम भक्ति की है?

समाधान :- अपने गुरु का नाम लेकर बोलते हैं।

मुमुक्षु :- हाँ, दो बार, तीन बार कहा है। ऐसा ही है। शिष्यने जाना है। कुन्दकुन्दाचार्यने जाना ऐसा नहीं, ते जाण्युं शिष्ये भद्रबाहु तणा। मैंने तो वही कहा है, जो जाना है वह।

समाधान :- अपने गुरु का नाम खास अलग लेकर कहते हैं। प्रत्येक देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करे उसमें गुरु का नाम अलग लेकर कहते हैं।

मुमुक्षु :- तत्क्षण लाभ का कारण तो ये होते हैं न। आज हमें बहिनश्री के योग में जो जानकर लाभ होता है तो हमें (भक्ति) आये ही आये, उसमें कोई शंका नहीं है। हमारे लिये तो साक्षात् भगवान ही है, ऐसा ही समझो न! भगवान का स्वरूप हमें दर्शा ही रहे हैं न! यह कोई विवेक की बात नहीं है। हृदय की बात है कि हमको दूसरे साक्षात् भगवान कहाँ देखने जाना है? मैं तो सबको ऐसा ही कहता हूँ कि हमें तो साक्षात् भगवान ही मिल गये हैं। इससे अधिक हमें क्या चाहिये?

समाधान :- गुरुदेव सभी को साक्षात् ही मिले थे और साक्षात् वाणी सबने सुनी है। गुरुदेव का परम-परम उपकार है। साक्षात् ही सभी को मिले हैं। यहाँ तो जो गुरुदेव ने कहा है वह कहते हैं।

मुमुक्षु :- लेकिन बहिनश्री ! उस वक्त तो ऐसा विवेक जागृत नहीं हुआ था, आज उनकी ग़ैर हाज़िरी में गुरुदेव याद आते हैं तो अब हमें ख्याल आता है कि ओहो..! बहिनश्री जो कहते हैं वही बात सत्य है। महिमा उनका ही लेकिन इनके द्वारा यहाँ अब आता है। उस वक्त इतना ख्याल नहीं

आता था, अब समझ में आता है। और गुरुदेव के भी बहिनश्री के प्रति जो भाव थे उसका प्रयोजन भी आज समझ में आता है। इशारा में समझाकर गये, अब भूलना मत। मैं आप सभी को सौंपकर जाता हूँ, कहकर जाता हूँ। और देखिये, शासन भी गुरुदेव की हयाती थी उससे भी अभी बिलकूल शांतिसे, स्वस्थतासे, सुंदरतासे चल रहा है। जिनको जाना था वह गये, जिनको रहना था वह रहे और जिनको शांतिसे अभ्यास करना है वे अच्छी तरह कर सकते हैं। यह अपार उपकार है, यह हकीकत है। जिसमें न्यूनता थी, उनको लगा, अपना यहाँ काम नहीं है और जो पक्के, सच्चे और निष्ठावान थे वे टिक गये। यह हकीकत है। बहुत प्रमाणिकतासे जो कुछ सूझ-समझ है उस अनुसार कहता हूँ, यह हकीकत बिलकुल सत्य हकीकत है। और दूसरी बात, लोगों को गुण और पुण्य का विचार नहीं है। अभी तो पापानुबंधी पुण्य और पुण्यानुबंधी पुण्य किसे कहते हैं, उसका ख्याल नहीं है। किसके साथ टक्कर लेते हैं यह मालूम नहीं है। टक्कर किसके सामने? अथाग पुण्य के धनी, उनके साथ!

समाधान :- ये सब कुछ बोलने की जरूरत नहीं है। गुरुदेव ने तो पूरा निर्माण किया है। यह सब तो चलता है। गुरुदेव ने तो पूरा परिवर्तन किया है। पूरे संप्रदाय का परिवर्तन किया है। वह बात अलग थी। उनकी प्रभावना, विकल्प, उनका जो प्रभावना का विकल्प, उनकी वाणी पूरा परिवर्तन लाये। वह बात अलग थी। अभी तो सब ठीक है। वह कोई बात नहीं।

(पूज्य भाईश्री प्रवचन...)

से जाने, तो वह जड़ होय, अर्थात् 'पर' में तादात्म्यवृत्ति—सम्बन्ध होकर एक होय। अतः ज्ञान पर को निश्चय से तो नहीं जानता, उपचार से जानता है। यदि ज्ञान 'पर' को उपचार से जानता है, तो सर्वज्ञता कैसे सिद्ध होगी? चूँकि उपचारमात्र झूठ है, अतः सर्वज्ञता झूठी होकर सिद्ध न हो सकेगी। इसका समाधान यह है :—'स्वयं ने ही प्रश्न उठाया है। ज्ञान है वह निर्विकल्प है। स्व-पर ज्ञान स्वपर पदार्थों को जानता है और स्व-पर पदार्थों को जानने पर परपदार्थों में यदि तन्मय हो तो ज्ञान जड़ हो जाय। किन्तु सर्वज्ञता कही है वह सर्वज्ञता परपदार्थों को जानना झूठ कहें तो सर्वज्ञता झूठी हो। तो ज्ञान का स्वरूप किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न उठाया है।

निवेदन

वर्तमान कोरोना वाईरस की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए समस्त पाठकवर्ग को यह सूचित किया जाता है कि आगामी, पूज्य निहालचन्द्रजी सोगानीजी की जन्म जयंति सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करने के लिये निम्न लिखित मोबाईल पर संपर्क करने के बाद ही अपने आने का प्रोग्राम बनायें। धन्यवाद।

मितेषभाई शाह — ९५८६०१५९९९

—श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, भावनगर

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणमन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ? 'मेरा' तो कोई कर्तव्य ही नहीं, ऐसा पहले पक्का होना चाहिये। (ध्रुव में कर्तव्य कैसे हो सकता है? मैं तो ध्रुवतत्त्व हूँ)। १५९

***

इधर (स्वद्रव्य में) दृष्टि जम गयी... बस, वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नहीं है। १६१

***

वस्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है; लक्ष्य करे उसी क्षण दिख जाती है। (अर्थात् वेदन में आ जाती है)। १८०

***

'वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ'—ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुयी, तो करुँ.. करुँ...—ऐसी कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी.. बस! यही मुक्ति है। १९१

***

'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम'—कैसी सुंदर बात श्रीमद्जी ने की है! एक पंक्ति में सब बात आ गई। बस, भाई! तू इतना ही विचार (ज्ञान) कर। १९७

***

'मैं अधिक हूँ'—यही स्वयं का माहात्म्य भाव है। 'मैं कोई भी भाव में—विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खींचिजता) ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ; विकल्प के साथ, परिणाम के साथ, खिसकता ही नहीं हूँ। क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है (आता है)?—वैसा का वैसा ही रहता है। ऐसे ही, मैं भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ।' १९९

***

अरे भाई! 'तू' एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। 'तू' तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि 'तू' एक पर्याय में आ गया तो अन्य सभी पर्यायें विधवा हो जायेंगी। २०३

***

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (अप्रैल-२०२०) का शुल्क एक मुमुक्षु, अमेरिका के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

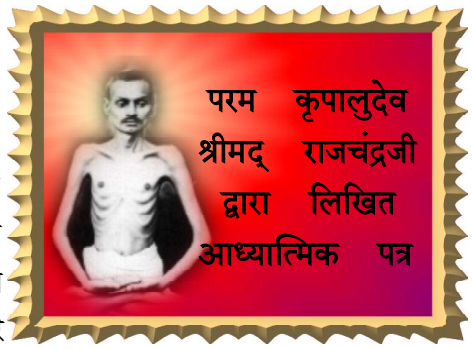

२१४ बंबई, फागुन सुदी ५, रवि,१९४७

अभेददशा आये बिना जो प्राणी इस जगतकी रचना देखना चाहते हैं वे बंधे जाते हैं। ऐसी दशा आनेके लिये वे प्राणी उस रचनाके कारणके प्रति प्रीति करें और अपनी अहंरुप भ्रांतिका परित्याग करें। उस रचनाके उपभोग की इच्छाका सर्वथा त्याग करना योग्य है, और ऐसा होनेके लिये सत्पुरुषकी शरण जैसा एक भी औषध नहीं है। इस निश्चयवार्ताको न जानकर त्रितापसे जलते हुए बेचारे मोहांध प्राणियोंको देखकर परम करुणा आती है और यह उद्‌गार निकल पड़ता है-'हे नाथ'! तू अनुग्रह करके इन्हें अपनी गतिमें भक्ति दे।'

आज कृपापूर्वक आपकी भेजी हुई वेदांतकी 'प्रबोध शतक'नामकी पुस्तक प्राप्त हुई। उपाधिकी निवृत्तिके समयमें उसका अवलोकन करुँगा।

उदयकालके अनुसार वर्तन करते हैं। क्वचित मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो तो बात अलग है परन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि इस जगतके प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है; वह बिलकुल सोनेका हो तो भी हमारे लिये तृणवत् है; और परमात्माकी विभूतिरुप हमारा भक्ति धाम है।

आज्ञाकारी

***

२१५ बंबई, फागुन सुदी ८,१९४७

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। इसमें पूछे गये प्रश्नोंका सविस्तर उत्तर यथासम्भव शीघ्र लिखुँगा।

ये प्रश्न ऐसे पारमार्थिक हैं कि मुमुक्षु पुरुषको उनका परिचय करना चाहिये। हजारो पुस्तकोंके पाठीको भी ऐसे प्रश्न नहीं उठते, ऐसा हम समझते हैं। उनमें भी प्रथम लिखा हुआ प्रश्न(जगतके स्वरुपमें मतांतर कयों है?)तो ज्ञानी पुरुष अथवा उनकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाला पुरुष ही खड़ा कर सकता है। यहाँ मनमानी निवृत्ति नहीं रहती; जिससे ऐसी ज्ञानवार्ता लिखनेमें जरा विलंब करनेकी जरुरत होती है। अन्तिम प्रश्न हमारे वनवासका पूछा है, यह प्रश्न भी ऐसा है कि ज्ञानीकी ही अंतवृत्तिके जानकार पुरुषके सिवाय किसी विरलेसे ही पूछा जा सकता है।

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको नमस्कार करते हैं। कलिकालमे परमात्माको किन्ही भक्तिमान पुरुषोंपर प्रसन्न होना हो, तो उनमेंसे आप एक हैं। हमें आपका बड़ा आश्रय इस कालमें मिला और इसीसे जीवित हैं।

***